टंकार

लेखक—

सत्यव्रतसिंह 'सत्य' विशारद

प्रथम आवृत्ति] १९४० [मूल्य १)

प्रकाशक—

ठाकुर राजवंशीसिंह

गगहा

गोरखपुर

मुद्रक—सुशील चन्द्र वर्मा बी० एस-सी०, सरस्वती प्रेस,

जार्ज टाउन, इलाहाबाद

लिये लेखनी टूटी सी,
टूटी कविता मैं लिखता हूँ ;
टूटी वीणा के तारों से,
टूटे फूटे स्वर गाता हूँ।

अरे ! देखना, हँस मत देना,
सुन बीणा की यह झंकार;
भग्न हृदय की विषम वेदना,
टूटे धनु की यह 'टंकार' !

—o:o—

उपहार

विषय-सूची

समर्पण

श्रद्धेय ठाकुर रामसेवकसिंहजी को सादर।

मेरे पथ प्रदर्शक !

आप सदैव इस मत के पक्षपाती रहे हैं कि कवि अपने युग का प्रतिनिधि होता है। वह चाहे तो देश क्या सारे विश्व को उत्थान की चरम सीमा तक पहुँचा सकता है या पतन के गहरे गर्त में डुबो सकता है। आपका हमारे लिए सदैव यही आदेश रहा कि तुम अपनी कविताओं में अपना दर्द-दिल नहीं, वरन् देश का दर्द दिखलाओ।

अस्तु, टंकार इसी भावना की एक प्रेरणा है। मैं गुरु-दक्षिणा क्या दे सकता हूँ ?

किन्तु,

सुनता गुरु का है हुआ करता बहुत ही ऋण बड़ा ;

तो ?

गुरु देव ! लो स्वीकार कर मेरी यही गुरु-दक्षिणा।

आपका वही

छोटा भैय्या

'सत्य'

आमुख

किशोर कवि सत्यव्रत सिंह 'सत्य' लिखित 'टंकार' नामी कविता-पुस्तक मैंने मनोयोग से देखा। आद्योपान्त इसे पढ़ा और इसके मर्मस्पर्शी स्थलों में मैं डूबा और उतराया भी। कई ऐसे स्थल मिले, जहाँ करुणा के उद्रेक से मेरा कंठ रुद्ध हो गया, और नेत्र सजल हो गये। कवि की सफलता का इससे अधिक प्रमाण और क्या हो सकता है?

इस समय हिन्दी की काव्यधारा में प्रवाहित होने वाली राष्ट्रीय चेतना की स्रोतस्विनी बड़ी ही शक्तिमती है। इसमें निर्जीव कल्पना नहीं, अपितु, व्यथित राष्ट्र के अन्तरतम की सच्ची कसक, कराह, आशा और अभिलाषाएँ मुखरित हैं। सत्यव्रत जी इसी राष्ट्रीय धारा के कवि हैं।

उनकी कविता में भाषा का सौन्दर्य, छन्दों का सौन्दर्य, माधुर्य, भले ही कम हो, किन्तु, भाव सौन्दर्य बहुत अच्छा बिखरा है। ऐसा जान पड़ता है जैसे कवि का हृदय देश के हृदय से मिल कर एक हो गया हो। उनकी प्रत्येक कविता, देश काल के साथ चलती हुई दृष्टिगत होती है, जिसमें जीवन है, उत्थान है, आशा और उत्साह है।

उनकी समस्त कविताओं में 'राणा प्रताप के प्रति' उनकी कविता, आलम्बन की उत्कृष्टता के कारण, तथा भावाभिव्यक्ति के कारण, बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है। इस कविता में राणा प्रताप का लघु किन्तु सुदृढ़ रेखाचित्र अंकित हुआ है। एक करुणा जनक चित्र देखिए—

आह ! घास की रोटी खाते,
हैं नन्हें-नन्हें सुकुमार;
लखकर कौन भला कह सकता,
हैं बेचारे राजकुमार ?

किन्तु, आज भी एक अलौकिक
आभा खेल रही मुख पर,
किसने पानी फेर दिया है
आह ! विचारों के सुख पर !

अरे कुमारी चीख़ पड़ी क्यों,
कुटिया में कैसा रोना ?
गूँज पड़ा क्यों कर कुटिया का
आज अरे कोना-कोना !

कितना करुणाजनक चित्र है ! वस्तुतः, इसी प्रकार हृदयद्रावक भावनाओं ही से पता चलता है कि कवि कितना सहृदय है और सहृदयता ही सच पूँछिए तो किसी भी कवि के काव्य की कसौटी है !

किन्तु, यह रुदन बहुत नहीं चलता। आगे उसमें धैर्य का पाषाण तट है, जिसे अश्रु की लहरें तोड़ नहीं सकतीं। आगे की पंक्तियाँ पढ़िए–

किन्तु समझ ले राणा यह तो
तेरी एक परीक्षा है
तेरे अद्भुत महाधैर्य की
होती एक समीक्षा है !

नहीं कहीं पथ से डिग जाना,
बेटी को कातर लखकर;
स्वतन्त्रता पथ पर आती है
प्राण हथेली पर रखकर !

आज से पहले भी इसी प्रकार की भावनाधारा को लेकर पृथ्वीभट्ट नामक कवि ने राणा को सम्बोधित किया था।

झम्या-झम्या पहाड़, धरा छोड़ि राख्यो धरम,
तिन राणा मेवाड़, बसिया हिन्दू हृदय महँ !

इस प्रकार की डिंगल भाषा में उन्होंने अपने भाव व्यक्त किये थे। और, कहा यह जाता है कि फिर राणा प्रताप सन्धि करने नहीं गये। उनका गौरव अक्षुण्ण रहा।

इस प्रकार, इस कवि में जहाँ एक ओर करुणा की धारा प्रस्फुटित है, वहाँ दूसरी ओर वीर रस का भी प्रवाह है। दोनों ही में भावोद्रेक करने की क्षमता है। किन्तु, इनके करुणा के चित्रों का प्रभाव पाठक के मन पर स्थायी और कुछ विशेष गहरा पड़ता है।

देखो कुटिया से निकला वह
जीर्ण शीर्ण-सा नर कंकाल !
नेत्र घुस गये हैं कपोल में
पचक गये हैं दोनों गाल।

यह दरिद्र भारत का जीता-जागता, चलता-फिरता, दिनरात का देखा-सुना चित्र है।

'दुखिया का धन' नामी कविता में करुणरस का अच्छा परिपाक हुआ है।

कवित्व की दृष्टि से इस संग्रह में 'समाधिदीप' नामी कविता सब से अच्छी बन पड़ी है।

प्रारम्भ से लेकर अन्त तक निर्वाह भी संश्लिष्ट एवम् उत्कृष्ट है। प्रत्येक पंक्ति में कविता का रंग है।

तुम किसकी विरह वेदना में
जलते रहते दिन रात सखे !
हा किसकी मिलन प्रतीक्षा में
करते व्यतीत दो याम सखे !

इन पंक्तियों में भावना बोल रही है। कल मैंने कविता की एक नयी परिभाषा पढ़ी, वह यह कि 'कविता हृदय तथा कवि उक्ति के बीच का सब से कम अन्तर है।' विचार अँगरेज़ी भाषा में व्यक्त हुआ है। अतः पाठक उसका स्वारस्य, सम्भव है सुचारु रूप से ग्रहण न कर सकें तथापि उक्ति सुन्दर है। परिभाषा मुझे पसन्द आयी, 'Poetry is least distance between heart and utterance of the Poet' इस दृष्टिकोण से समाधिदीप, रचना में हृदय की बाढ़ ही अधिक है !

आगे, कवि की अनूठी उक्ति देखिये—

देखो कोमल उर पर प्रिय के
है कितना भीषण भार सखे !
क्या आशा है, कर सकते हो
तुम उसे जला कर क्षार सके।

अर्थ लिखने की आवश्यकता नहीं, सहृदय स्वयम् इसके अर्थ के आनन्द का अनुभव करेंगे।

है तृषा तुम्हें, पर बुझे कहाँ?
अक्षय यौवन की प्यास सखे!
जब तप्त अधर को करते हैं
बह-बह प्रतिपल निश्वास सखे!

इसमें भी सार्थक उक्ति है!

इस प्रकार समस्त कविता, कवित्व से परिपूर्ण है। कवि सत्यव्रतसिंह की कविता इस प्रकार समाधि दीप में आकर बहुत कुछ ऊँची सतह पर पहुँची है। इससे उनके विकास के क्रम का बोध होता है, और कहा जा सकता है कि पहले से अब अच्छी कविता करते हैं। आशा है भविष्य में और भी भावमयी, हृदयस्पर्शी, कविताएँ लिखेंगे।

इतना लिखना यहाँ आवश्यक है कि उनकी कविताएँ आवश्यकता से अधिक बड़ी हैं। कविता छोटी ही सुन्दर होती है!

वे प्रबन्ध कविता अच्छी लिख सकते हैं। कहना न होगा कि उनके प्रोत्साहन के लिए ही यह सराहना (Appreciation) लिखी गयी है। आशा है पाठक उनकी कविता को स्नेह से ग्रहण करेंगे जिससे भविष्य में वे ऊँचे देश-प्रेम से पूर्ण, तथा हृदय की गहराई से निकली हुई वाणी से लिख सकें।

उनका देश प्रेम श्लाघ्य है, किन्तु, हमारे बन्धु स्नेह के पात्र होने चाहिए घृणा के नहीं। 'मानव से घृणा न करना चाहिए, घृणा करना चाहिए मानव की दानवी वृत्ति से' आशा है, भविष्य में कविता के इस टोन को वे सुस्निग्ध कर सकेंगे।

गोस्वामी तुलसीदास के शब्दों में कुछ उलट-फेर के साथ मैं अन्त में इतना ही कहना चाहता हूँ कि इनकी कविता में कोई गुण नहीं, केवल देश प्रेम है। अतः, देश प्रेमी केवल इसी गुण के कारण इनकी कविता को सरस समझ कर स्नेह से पढ़ेंगे।

तथास्तु

सोहनलाल द्विवेदी

प्रयाग
३०-९-४०

—:❀:—

कवि से

रे कवि! उठा लेखनी अपनी
उर में कुछ उन्माद लिये,
बीती हुई सुखद स्मृतियों की
एक सजीली याद लिये।

आज तुझे लिखना है रे कवि!
गाथा उन रणधीरों की,
समता कर न सका जग जिनकी,
उन प्रचंड बलबीरों की;

अपने तप्त हृदय को कर ले
शान्त, उन्हीं सुस्मृतियों से ;
सुस्थिर हो जा आज अरे कवि !
उनकी पावन कृतियों से ।

हैं विलीन यद्यपि अनन्त में
हा ! वे भारत के सुकुमार,
क्रूर काल के पड़ लपेट में,
यद्यपि हुए वीर वे चार ;

पर स्मृति उनकी शेष न क्या है,
गूंज रही जो जगती में ?
घूम-घूम कर आज न क्या
सन्देश सुनाती धरती में ?

आज विश्व के प्रांगण में हैं
पढ़ा रहे वे पाठ नवीन ;
फिर उमंग क्यों नहीं हृदय में
बना हुआ क्यों रे कवि दीन

एक नया अरमान लिये,
उर में नवीन अभिमान लिये,
उठ रे कवि ! उठ ! समय, आज
अपनेपन का सम्मान लिये;

रच गाथा उन वीरों की तू
एक निराली शान लिये
उठा लेखनी, विश्व जगे
तेरे नवीनतम गान लिये।

———

राणाप्रताप

आह! आज इस महारण्य में
ये नन्हें सुकुमार कहाँ?
सुख की गोदी में पलने
वालों का भोला प्यार कहाँ?

कठिन जेठ की दोपहरी में
विह्वल कितने बेचारे?
क्रूर नियति के चक्कर में
हैं पड़े विचारे मनमारे।

आह ! बिगाड़ा जग का क्या
जो इनने निर्वासन पाया ?
पाप किया था कौन भला ?
जो दिन यह लखने को आया !

अभी अभी तो उतरे हैं ये
वैभव के सुख-पलनों से,
साथ अभी ही छूटा है
इनका वैभव के झरनों से।

आह ! आज क्या साज बना है,
कल कैसा था साज ललाम ?
एक व्यथा के बाद दूसरी
व्यथा आ रही है अविराम।

देखो तो जगती के हैं
ये कैसे भोले से प्राणी !
कितना शुद्ध मनस्तल इनका,
बतलाती इनकी वाणी !

क्या जग का सुख ही समझा था,
दुख का पर्वत टूट पड़ा ?
एक ठेस ही में तो इनका,
विधि-घट कच्चा फूट पड़ा।

महा कठिन व्रत में बेचारे
आज व्रती इस भाँति बने;
राज्य-विभव, ऐश्वर्य त्याग कर,
महा साधना मध्य सने,

भानु अनल की वर्षा करता,
महाताप से ये भयभीत;
आज नहीं इस सघन विपिन में,
इनका है कोई भी मीत;

गद्दों पर सोते थे सुख से,
आज कंटकों पर सोना;
आशाएँ हैं क्षार हो चुकीं,
सुख से भी अब कर धोना।

विधिका क्या विधान निष्ठुर है !
पथ के बने भिखारी हैं;
बस स्वतन्त्रता के ही कारण
तो ये महा दुखारी हैं।

अरी निष्ठुरे राज्य-पिपासा !
तेरी ही तो यह माया;
बोल बोल तो कुछ भी तू,
क्यों खेल भयंकर यह भाया ?

अकबर है सम्राट परन्तु
न लोभ मिटा अब भी उसका,
एकबार तू बसकर मन में
पिंड छोड़ती है किस का ?

राणा पर भी कृपा-दृष्टि
अकबर की पड़े बिना न रही;
इच्छा है जब उसकी यह,
ले जीत आज वह सकल मही;

पर राणा क्यों शीश झुकाये,
क्यों रजपूती, छोड़े आन ?
इसको कैसे भला छोड़ सकता,
वह तन में रहते प्रान ?

नहीं किये हैं विस्मृत अब भी,
वीर शिरोमणि निज इतिहास;
वही रक्त अब भी बहता है
नहीं हुआ अब भी कुछ ह्रास।

रुधिर पिपासी यदि तलवारें
हैं, तो हो लेवें वे शान्त;
किन्तु पराजय के भय मे
हो सकता राणा आज न भ्रान्त।

जीवन में क्यों करे पराजय
का अनुभव वह शूर भला ?
पराधीन होने से अच्छा
है दे देना समुद गला !

इसी टेक पर हल्दी घाटी
में समराग्नि महा भड़की;
एक बार प्यासी तलवारें
समरक्षेत्र में आ कड़कीं।

आज दृश्य है महाप्रलय का,
प्राणों की है होड़ लगी;
जीवन की आशा इन शूरों
से है कोसों दूर भगी।

प्राणों का सौदा करने
आये हैं ये रणधीर महा;
आज कहाँ घर की ममता है,
जीवन का है मोह कहाँ ?

विजय-मदोन्मत अकबर को
बलिदानों की है क्या परवाह ?
कितना ही अनर्थ होवे
पर उसे राज्य-तृष्णा की चाह !

आज न राणा वह राणा है,
वह तो आज प्रवासी है;
नहीं राज-अधिकार उसे है,
बना आज बन-वासी है।

बेबस बना भाग्य के सम्मुख
नहीं कर्म से हीन बना;
कर्त्तव्यों से मुख न मुड़ेगा,
दुख पर आवे दुःख घना।

राणा ने अपराध किया था,
बच्चों ने क्यों फल पाया?
राज्य-पाट है सब जिनका,
उन पर यह क्यों दुर्दिन आया?

झेल रहे हैं क्यों बेचारे,
दारुण बन के दुःख व्यथा?
बन-प्रवास क्यों पाया उनने,
जब उनका कुछ दोष न था?

आह ! घास की रोटी खाते
हैं नन्हें - नन्हें सुकुमार;
लख कर कौन भला कह सकता
हैं बेचारे राजकुमार !

किन्तु आज भी एक अलौकिक
आभा खेल रही मुख पर।
पानी किसने फेर दिया है,
आह ! बिचारों के सुख पर ?

अरे ! कुमारी चीख पड़ी क्यों,
कुटिया में कैसा रोना ?
गूँज पड़ा क्यों कर कुटिया का,
आज अरे ! कोना-कोना !

राजकुमारी के कर की
रोटी, आ छीन ले गया कौन ?
कर मस्तक पर आज धरे
बैठे हैं राणा चिन्तित—मौन !

आह ! घास की रोटी को भी
क्यों दुर्दिन ने छीन लिया ?
इतना ही क्या कम बेचारों को,
दुर्दिन ने दुःख दिया ?

नहीं दूसरी रोटी भी है
क्षुधा शान्त जिससे होवे;
कई दिवस की क्षुधित बिचारी
क्यों निज धैर्य नहीं खोवे ?

इतना अक्षम है राणा क्या
भोजन भी जो दे न सके ?
देश, जाति की रक्षा हित
क्यों रे दीवाने व्यर्थ थके ?

किन्तु समझ ले राणा ! यह तो
तेरी एक परीक्षा है,
तेरे अद्भुत महा धैर्य की
होती एक समीक्षा है।

नहीं कहीं पथ से डिग जाना
बेटी को कातर लख कर;
स्वतन्त्रता पथ पर दिखलाती
प्राण हथेली पर रख कर।

साहस खो बैठा अपना यदि,
सारा जग फिर हँस देगा;
ओ स्वतन्त्रता के दीवाने!
जग आड़े हाथों लेगा।

हुआ वही जो भय मन में था,
ध्येय सभी निज भूल गया;
बेटी का रोना लख करके
उर में उपजा शूल नया।

तो क्या तू अकबर से करने
जाता, रे राणा! सन्धी?
कितना था असह्य दुख
जिससे बुद्धि हुई तेरी अन्धी।

पर यह क्या तेरी पुत्री ही,
दे तुझको आदेश रही ?
सच है, क्षत्रिय-पुत्री का,
सचमुच होता है वेश यही।

नेत्र खुल गये अब तेरे,
फिर से करना यह भूल नहीं;
जाना मत पुत्री की इस,
शिक्षा से तू प्रतिकूल कहीं।

इसी कंटकाकीर्ण बिस्तरे
पर, तो तू सुख से सोता ;
फिर क्यों एक अचानक घटना
से, अधीर इतना होता ?

कंटक के पश्चात् तुझे,
फूलों का पथ मिलने वाला;
इसी पराजय के स्वरूप तो,
पायेगा तू जय-माला।

महा परीक्षाएं तेरी, होतीं
स्वतन्त्रता — अनुगामी ;
इनमें यदि उत्तीर्ण हुआ तो,
होगा अमर महानामी ।

देख तनिक तो कुटी द्वार पर,
एक भिखारी है आया;
भोजन का इच्छुक सा वह,
है लेता कुटिया की छाया ।

बोल ! भला देगा क्या उसको,
घर में बचा शेष ही क्या ?
तो उस बुड्ढे अतिथि देव को,
यों ही बिदा करेगा क्या ?

देख उधर, मत हो चिन्तित,
है बेटी दो पैसे रक्खे;
आज इसी से अतिथि बिचारा,
दुखियों का भोजन चक्खे ।

रोटी बनते ही परन्तु,
जा अतिथि हुआ किस ओर विलीन ?
समझ गया क्या वह भी, यह
है कुटिया जिसमें रहता दीन ?

नहीं विकल हो, मेरे दानी !
था वह भिक्षुक तो अकबर,
देख तुम्हारी दान शीलता,
स्वतः झुक गया उसका सिर।

दृढ़-व्रत हो जिसका ऐसा,
कर सकता कौन विजय उसको ?
भूखों रह कर अन्य खिलावे,
लड़ने का साहस किसका ?

अकबर हार गया तुझसे अब,
हे रघुकुल के तिलक प्रताप !
जब तक जगती की सत्ता है;
अक्षय तेरी कीर्ति-कलाप !

(२५ जुलाई १९४० ई०

———

तुलसीदास

हे भारत के उज्वल गौरव,
निखिल ज्ञान के भांडारी!
हे स्मरणीय पुरातन तुलसी,
मर कर भी जीवन-धारी!

सावन की रिमझिम फिर आयी,
लेकर ये तेरा आख्यान;
वही पुण्य तिथि आज श्रेष्ठ कवि!
लायी है तेरा गुण गान।

उस अतीत की सुख-स्मृतियाँ,
चिर सञ्चित सारी इस तिथि में;
हिन्दी का सौभाग्य छिपा है,
आह! इसी कुटिला तिथि में।

गूंज रही है सकल विश्व में,
कीर्ति-कौमुदी पर तेरी;
हृदय-लोक के घर घर में,
है आज लगाती वह फेरी।

काव्य-कुसुम के परिमल हो तुम,
हे हिन्दी के तुलसी दास!
भारत के घर-घर में अब भी
दिव्य तुम्हारा रुचिर-निवास।

भूत, भविष्यत्, वर्तमान के,
पथदर्शक तुम आज कहाँ?
अन्तर-उर के हे प्रकाश!
वह भव्य तुम्हारा साज कहाँ?

मनस्भावनाओं के नायक,
हे भावुक उर के कम्पन!
हिन्दी की साहित्य-वाटिका
के, हे सुरभित सरस सुमन

शुचि शृंगार तथा करुणा के,
इष्ट देव श्री तुलसीदास!
समता करने का तुमसे,
यह जग है करता विफल प्रयास!

देकर के निज काव्य-सुधा,
जगती को जीवन दान दिया;
इसीलिए तो हे कवि नायक!
जग ने तेरा मान किया।

रवि के सदृश ही वसुधा में,
निज स्वर्णिम आभा फैला,
स्वच्छ कर दिया सकल विश्व को,
जो था दूषित, अति मैला।

कर्म योग के योगी तेरा,
वह विकास मंजुल कितना ?
पतित विश्व को हाय ! पतन से,
अब भी है रोके इतना।

रामचरित-मानस में तेरे,
शक्ति-महान् छिपी कविवर;
क्लान्त-पथिक को जीवन-पथ में,
आज बना है वह तरुवर।

विमल ज्योति-विस्तार हुआ है,
तेरी इस महान् कृति से,
आज हृदय को शान्त करें हम,
तेरी बस पावन स्मृति से।

हिन्दी का भांडार भरा है,
तेरे रुचिर-रत्न-गण से;
नहीं उऋण यह हो सकता है,
तेरे दिये हुए धन से।

रुचिर वसन में निज कवित्व के,
तूने तत्व-पदार्थ भरा;
याद तुझे कर आज महाकवि !
हुआ हृदय का घाव हरा !

अमर गान तेरा है गुंजित,
भारत नहीं सकल जग में;
नहीं रोकने वाला उसको,
आज एक भी है मग में।

नहीं एक भी क्षेत्र काव्य का,
बड़भागी तूने छोड़ा;
विश्व पतन-पथ पर जाता था,
तूने उसका मुख मोड़ा।

अन्य कवि गणों ने तेरे,
जूठन से ही सन्तोष किया;
अपनी प्रखर-प्रभा से तूने,
जग का हर सब दोष लिया।

नष्ट-प्राय सारा समाज था,
उसका पुनरुत्थान किया।
कविता के ही साथ-साथ,
निज जाति, धर्म पर ध्यान दिया।

भक्तप्रवर हे कविनायक!
पीकर के भक्ती का प्याला,
सुधि तन-मन की भूल गया,
बन गया अहा! तू मतवाला।

निज मस्ती में भूला, तुझको
वैभव की परवाह नहीं;
रामभक्ति थी बहुत तुझे,
थी शेष तुझे कुछ चाह नहीं

अतुल रागिनी आज तुम्हारी,
गूंज रही अवनी तल में;
भ्रान्त पथिक को मार्ग बताती,
वह अनुपम निधि बस पल में।

हे भक्ती के दीवाने,
भक्ती में जग को रँग डाला;
विश्व-जनों के अधरों पर
वह लगा दिया भक्ती-प्याला,

मनःविकार धो दिया सबका,
नव-जग का निर्माण किया;
मानवता की सेवा में ही
तूने अपना प्राण दिया।

हे मनुष्यता के उन्नायक !
हे कवि-जग के सुन्दर प्राण !
कभी जगत से मिट सकता है,
क्या तेरा मुदमय आख्यान ?

अमर-गिरा की तेरी महिमा,
उज्वलतर से उज्वलतम ;
और निखरती ही जाती है
प्रतिभा, होती नेक न कम।

सन्त, तुम्हारी वाणी में है,
जीवन का अमरत्व भरा;
मनुज नहीं तुम देव प्रभो थे,
जगोद्धार हित रूप धरा।

फिर निज देश चले तजकर के,
कार्य महान् हुआ पूरा;
कार्य महान् किये पूरा पर,
जग का स्वार्थ न था पूरा।

विश्व-तपस्या के फल ही,
था देव ! तुम्हारा हुआ सृजन;
छोड़ चले पर जग को तुम तो,
सभी भाँति कर के उन्मन।

नहीं दिखाती क्या तुमको है
हिन्दी की यह पतित दशा ?
देखो करती आज सभी को
भ्रमित, अँधेरी काल-निशा।

पथदर्शक है आज न कोई,
साँप-छछूँदर की गति है;
हक्का बक्का आज सभी हैं,
नहीं किसी की स्थिर गति है।

आवश्यकता नाथ तुम्हारी,
भारत को है आज महा;
आओ शीघ्र तनिक देखो,
क्या भारत का वह साज रहा ?

मद, ममता, मत्सर ने आकर,
भारत को, देखो घेरा !
फूट डायिनी ने देखो,
आकर के निज डाला डेरा।

गूंज उठा था सकल विश्व जब,
तव अनुपम उपदेशों से;
जगती का मस्तक जब नय था,
तव सुन्दर आदेशों से;

तव सम्मुख जब अकबर ने भी,
अपना घुटना टेक दिया ;
उसका अर्पित मान, विभव ,
भगवन था तुमने फेंक दिया ।

तब, अब में कितना अन्तर है !
देखो भारत में आकर ;
अब तो हैं मदान्ध बन बैठे ,
सब के सब प्रभुता पाकर

आह ! पददलित दीन हो रहे
हैं, भारत में सब ही ओर ;
नहीं बिचारों को मिलता है,
रहने को भी जग में ठौर !

इसीलिए क्या आ न रहे हो ?
लगा रहे हो इतनी देर ;
नहीं तुम्हें क्या भगवन ! भाता
क्रूर समय का चक्कर-फेर ।

तुमने ही तो लिख डाला था,
अटल नियम यह जग का देव;
फिर आने में आज भला क्यों,
दिखलाते हो नाथ कुटेव?

आह! भारती हम कब से हैं,
आँखें फाड़ निहार रहे;
किन्तु आह! रूठे हो इतने,
दया न नेक पसार रहे।

देव तुम्हारे जन्म-समय में
भी, भारत था पतित महा;
किन्तु न जाने क्यों तब तुमने
एक शब्द प्रतिकूल कहा?

तुमको तब आने में क्योंकर
भगवन! हुई नहीं पीड़ा?
तब तो इसे उठाने के हित,
उठा लिया तुमने बीड़ा।

तुमसे ही तो पा प्रकाश इस ,
भारत ने शिक्षा पायी ;
भक्ति-रंग में रँग करके ,
भारत ने नव दीक्षा पायी ।

कायाकल्प हुआ तुम से ही ,
तुम से ही उद्धार हुआ ;
फिर इसका उद्धार तुम्हें; क्या
दिखलाता है भार नया ?

आखिर, क्यों इतना भूले हो
इसमें दोष हमारा क्या ?
आज डूबती नौका को
दोगे तुम नहीं सहारा क्या ?

हम को तो आशा महान है,
आओ या न यहाँ आओ;
दीप धूप लेकर बैठे हैं ,
दर्शन तो दिखला जाओ ।

हम महान आशा में बैठे,
हैं करने को तव पूजा;
ऐसी विकट परिस्थिति में है,
कौन सहारा अब दूजा ?

भारत है निर्धन, निर्बल;
कुछ शेष न पास बचा अब है ;
श्रद्धा, भक्ति तनिक सी जो है,
अर्पित देव ! तुम्हें सब है।

देर न करना नाथ तनिक अब,
नहीं निराश हमें करना;
देर तनिक भी नाथ हुई यदि,
आकर हम देंगे धरना।

बस अब कहना शेष न कुछ है,
शीघ्र यहाँ स्वामी आओ;
दुखिया, पराधीन भारत पर,
अब तो तनिक दया लाओ।

(१० अगस्त १

दुखिया का धन

हुआ आगमन रवि का नभ में,
फैल गया किरणों का जाल;
मणि-मुक्ता से हुआ सुसज्जित,
नील व्योम के उर का थाल।

देखो कुटिया से वह निकला
जीर्ण शीर्ण सा नर-कंकाल;
नेत्र घुस गये हैं कपोल में,
पचक गये हैं दोनों गाल!

३

यद्यपि तन है जीर्ण महा,
सह सकते पैर न उसका भार;
मन मारे वह चला जा रहा
है निज पथ देखो चुप मार।

अन्तःकरण दुखित है उसका,
मन में एक छिपी ज्वाला;
चिन्ता से व्याकुल है इतना,
आह! पड़ गया है काला।

लख कर जगत घृणा करता है,
आह! बिचारे का कृश गात!
जगती में अवकाश कहाँ है,
उससे करने को दो बात?

पर, कुटिया में एक जीव है,
यह जिसके मन का राजा;
लखकर यही गात जिसका,
सूखा मन हो जाता ताज़ा।

बुढ़िया माँ का एक सहारा,
जीवन-नौका का नाविक,
वृद्धापन की लकड़ी है यह,
अन्धेरे घर का माणिक।

दिन के अथक परिश्रम से
सन्ध्या को पाता दो आना;
प्रबल पेट की चिन्ता से
है लगा हुआ आना जाना।

दो आने में दो प्राणी का
हो सकता कैसे निर्वाह ?
जीते जी करना पड़ता है
इन दोनों को तन का दाह।

एक समय भूखे रह करके
एक समय भोजन पाते;
रूखा सूखा सन्ध्या को
जो मिला वही रुचि से खाते।

आडम्बर से दूर बहुत हैं,
जीवन में कुछ इन्हें न चाह;
किसी भाँति दोनों प्राणी का,
बस होवे केवल निर्वाह।

है सन्तोष दशा से अपनी,
सुन्दरता की याद नहीं;
जग को भूले हैं अपने में,
कुछ भी पर उन्माद नहीं।

जग के हास विलासों का
इन बेचारों को ज्ञान कहाँ ?
दर्शन भी न हुआ जब उनका,
आवे उनका ध्यान कहाँ ?

जभी सूर्य की रेखा उतरी,
उतर पड़े निज खाटों से;
ये तो क्योंकि सदा वंचित हैं,
जग जीवन के ठाटों से।

नित्य कर्म से छुट्टी पाकर,
चल देता है अपनी राह;
प्रातः पानी भी पीने की,
इसे नहीं है कुछ परवाह।

बैलों के समान तपता है,
कठिन जेठ-दोपहरी में;
उधर करोड़पती हैं भूले,
अपने को स्वरलहरी में।

उसकी अक्षमता पर हँसता
है, रवि भी अपना जी भर ;
स्वेद-कणों से है हो जाता
बदन बिचारे का हा तर !

भूख प्यास से विह्वल भी वह,
जुटा कार्य में है रहता;
हाय ! निरन्तर अथक परिश्रम,
करता है दुख को सहता।

रवि भी बदन छिपा लेता है,
लखकर उसकी यह दृढ़ता;
मानों होड़ समझ कर इसको,
अपने मन में है गड़ता।

जब सन्ध्या की ललित अरुणिमा,
है विलीन नभ में होती;
क्षण के लिए जाग उठती है,
भाग्य बिचारे की सोती।

दो आना मज़दूरी पाकर,
है प्रसन्न-मन गृह आता;
आटा ला कर दे देता है,
मां से दो रोटी पाता।

तर्क वितर्क न आता उसको,
सो जाता निद्रा में लीन;
श्रम से थका हुआ उठता है,
प्रातः ही बेचारा दीन।

यही कार्य क्रम है बस उसका,
बाकी कुछ न प्रयोजन है ;
शुद्ध नहीं है यद्यपि तन से,
किन्तु विशुद्ध सदा मन है।

इसी भाँति निज रुधिर सुखाता,
बनकर महा मनस्वी सा ;
निज तन की आहुति करता है,
प्रतिदिन तरुण-तपस्वी सा।

आज बिचारा भी निकला है,
उसी कार्य पर हो तत्पर ;
पर अनिष्ट की आशंका से,
आज काँपता है थर थर।

एक बार वह लौट चला गृह,
पर कुछ समझ पुनः लौटा ;
आज न जाने बार-बार क्यों.
कर लेता निज मन छोटा ?

विवश, गया उस चक्की में,
जुतने को दुर्दिन का मारा ;
कौन जानता मन्द पड़ेगा,
उस बेचारे का तारा ?

देखो ! शेष अस्थि है केवल,
कितना काम परन्तु कड़ा ?
सच है सब को झुकना पड़ता,
सच है जग में पेट बड़ा।

किसी भाँति दुष्कर दिन बीता,
पाकर छोटी मज़दूरी ;
प्रस्तुत हुआ महा मुदमय हो,
तय करने को गृह-दूरी,

बढ़ा महाद्रुतगति से हा ! वह,
भिन्न विचारों में तल्लीन ;
आज भविष्य अन्ध में उसका,
नहीं जानता था वह दीन।

सोच रहा था जाकर घर पर,
माता का पाऊँगा प्यार ;
एक इसी सुन्दर विचार से,
बज उठते थे उर के तार।

ध्यान नहीं उसको कुछ भी था,
सुख स्वप्नों में था यों लीन ;
उड़ था रहा नभस्तल में वह।
नहीं जानता था 'है हीन'।

सुख से हुआ महाविह्वल यों,
सुख के अश्रु गिरे भू पर;
लगे पैर डगमग होने,
वह बैठा टेक धरा पर कर।

इसी समय पीकर मदिरा,
निज सभी चेतनाएँ खो कर;
चला जा रहा था विलास का,
पुतला मोटर को लेकर।

बैठा था वह दीन बिचारा,
निज मानस-स्वप्नों में लग्न;
आह ! आन्तरिक सुख में भूला,
बैठा था अतिशय वह मग्न,

हार्न दिया पर सुन न सका वह,
हटा नहीं वह हा ! तिल भर;
सह सकते थे बाबू उसका,
ऐसा ढीठपना क्योंकर ?

मोटर चढ़ा दिया दुखिया पर,
मस्तक उसका चूर हुआ;
क्षण में मर कर हाय ! बिचारा,
वहीं लाश का घूर हुआ।

उधर चंचला-मद में उन्मत्त,
ध्यान न कुछ इस पर देकर,
पहुँच गये दो चार क्षणों में,
कोठी पर मोटर लेकर।

आह ! विचारे उस दुखिया की,
छिपी रही मन की मन में;
सभी हवाई महल बिचारे,
के ढह गये एक क्षण में।

माता की आशाएँ अब भी,
रमी हुई थीं हा ! मन में।
वह ही तो था एक सहारा,
उसके उस वृद्धापन में ?

शाम गयी, निशिपति आया,
माँ की उत्कण्ठा उग्र हुई;
सुत को देख नहीं निज गृह में,
बेचारी अति व्यग्र हुई,

किन्तु न आशा अब भी छूटी,
रात प्रतीक्षा में बीती;
अश्रु-प्रवाह बहा कर उसकी,
आँख नहीं कुछ भी रीती।

पौ फटने के पूर्व उठी,
फिर चली उसी दुष्कर पथ पर;
बेटे से मिलने की आशा,
निज मन-मन्दिर में रखकर।

तनिक दूर ही जाने पर,
निज सुत की लाश मिली उसको;
माता का मन बैठ गया,
बस मृत्यु प्रतीत भली उसको ?

तब की गिरी उठी क्या बुढ़िया ?
क्या फिर से जीवन आया ?
आता कैसे जब दुखिया के,
धन ही ने न उसे पाया।

आह ! विषमता जग में भी क्या,
सुख दुख का सम्मेलन है ?
एक उड़ाता मौज यहाँ है,
एक महा ही उन्मन है।

ऐ विलासिता के दीवानों !
अब भी निज आँखें खोलो;
कब तक यह वासना चलेगी,
बतलाओ कुछ तो बोलो,

जिनके खून चूसकर जीते,
उन पर क्यों अन्याय भला ?
जिनकी कृपा कोर है उनका,
सदा दबाते हाय ! गला ।

३० जुलाई १९४० ई०

---

*

समाधि दीप

तुम किसकी विरह-वेदना में ;
जलते रहते अविराम सखे ?
हा ! किसकी मिलन-प्रतीक्षा में ;
करते व्यतीत हो याम सखे ?

किस आशा में, किस मस्ती में ,
जीवन का यह व्यापार सखे ?
प्राणों का अर्घ्य चढ़ाते हो ;
किस पर यों बारम्बार सखे ?

बिछुड़ा वह सुन्दर कौन भला ;
रोते निशि भर जिस हेतु सखे !
जिसमें जग डूब चुका उसपर ;
क्यों बना रहे यह सेतु सखे ?

क्योंकर अतीत पर डाल रहे हो,
गहरा सा आलोक सखे !
बीती सुधियों को जगा रहे,
कैसा यह करुणोद्रेक सखे ?

इस निर्जन सी समाधि से अब भी,
लगा हुआ क्यों स्नेह सखे ?
यौवन क्यों ढाल रहे अपना,
विगलित करते क्यों देह सखे ?

किस आशा को तुम सींच रहे,
होगी क्या वह साकार सखे ?
क्या जोड़ सकोगे हृत्तान्त्री के
फिर तुम टूटे तार सखे ?

बस केवल भ्रम है मृग-तृष्णा ,
कैसी स्वप्निल अभिलाष सखे ?
यह सम्भव कहाँ तृप्त होले ,
यह अमिट प्रेम की प्यास सखे ?

फिर छाया यह पागलपन क्यों,
कैसा प्राणों में दाह सखे ?
घुल-घुल कर मिटते, छोड़ रहे
कैसी यह नीरव आह सखे !

इस विरह रात्रि में, शून्य सदन में,
विस्मृत हो इस भाँति सखे !
तुम चिर निद्रित से, मौन बिछाते
कैसी वन में कान्ति सखे ?

वह जटिल समस्या है कैसी ,
खो बैठे तुम अपनत्व सखे !
क्षणभंगुरता को देख देख ,
भाता कैसा अमरत्व सखे !

देखो वह छाती पर प्रिय के,
कितना भीषण है भार सखे!
आशा है क्या कर सकते हो तुम,
उसे जला कर क्षार सखे?

पर बना सत्य भी कभी यहां पर,
जीवन में क्या स्वप्न सखे?
तो बार-बार क्यों लाते हो,
सम्मुख अतीत मधुमग्न सखे?

है तृषा तुम्हें, पर बुझे कहां
अक्षय यौवन की प्यास सखे!
जब तप्त अधर को करती है,
प्रतिक्षण बह-बह निश्वास सखे!

क्या मर्म-वेदना सहते हो,
जो जान न सकता अन्य सखे?
किस के वियोग में जलते हो,
आहुति दे रहे अनन्य सखे!

निज प्राणों का उत्सर्ग विश्व में,
करता है यों कौन सखे ?
इस असह वेदना को सहते ,
फिर भी रहते तुम मौन सखे !

जीवन को बलि के चरणों में ,
यों चढ़ा सकेगा कौन सखे !
यों महा कठिन तप करते जो न
थकेगा, है वह कौन सखे ?

अरमानों को कर दे मिट्टी
परहित, जग में वह कौन सखे ?
घुल-घुल कर जीवन मिटा चले,
जगती में है वह कौन सखे ?

निशि-अन्धकार को दूर करे ,
पर लख न सके जो प्रात सखे !
जगती का तिमिर मिटाये जो ,
सह-सह शत-शत आघात सखे !

आशाओं की जो बलि दे दे,
पर जीवन लाने अर्थ सखे!
हँस-हँस कर करे मृत्यु का
आलिंगन, है कौन समर्थ [illegible].

वह बोये जो, पर काट न पाये,
कैसे प्रेमी जीव सखे!
जग के हृदयों में डाल रहे हो,
कितनी गहरी नींव सखे!

तुम पुष्प अनूठे हो, करता
जो जग को सौरभ-दान सखे!
झड़ता जो कुचल-कुचल चरणों से,
पाता फिर अपमान सखे!

तुम महा तपस्वी हो वह, जिसका
तप-फल पर अधिकार नहीं;
हो कृषक, खिलाता जो जग को,
पाता पर जो आहार नहीं।

यह कब से तुमने बना लिया है
तपस्वियों का वेष सखे ?
क्या कहते हो कुछ मूक व्यथा से,
कौन मधुर सन्देश सखे ?

सन्देश रोक लेती है, लेकिन
मिट्टी की दीवार सखे ?
तो तुले हुए हो इसीलिए क्या,
करने को यह त्वार सखे ?

प्रति पलही बहते रहते हैं क्यों,
तरल नयन-जल-धार सखे ?
प्रिय की इस उन्मन दृढ़ता पर,
क्यों मान न लेते हार सखे ?

वह निष्ठुर है, निर्मम है, क्या
जाने वह भोला प्यार सखे ?
करके यह सत्याग्रह अपना,
तुम पा न सकोगे पार सखे।

तव नयन-पुतलियों से गिरते हैं,
टप-टप मोती बिन्दु सखे ;
देखो तो कुम्हला गया तुम्हारा ,
यह कैसा मुख-इन्दु सखे !

तुम कड़े प्रेम-बन्धन में पड़कर ,
खो बैठे हो होश सखे ;
पड़ गये स्वयम् जब हथकड़ियों में,
दूँ मैं किसको दोष सखे ?

तुम बन्दी हो, पर नहीं तुम्हें है,
तनिक मुक्ति की चाह सखे !
पथ भूल गये हो, किन्तु न ढूँढ़
रहे हो अपनी राह सखे ।

हो घिरे हुए अंगारों में,
पर इसकी क्या परवाह सखे ?
है मिली प्रेम-मादकता जब ,
निकले क्यों मुख से आह सखे ।

उर कमल तुम्हारा खिलता है,
लख होते निज को चार सखे;
बतलाओ तो करते हो क्यों,
तुम भला मौत को प्यार सखे?

क्या आशा है मर कर पाओगे
प्रियतम का फिर साथ सखे?
क्या घूम सकोगे वहाँ पहुँचकर,
ले हाथों में हाथ सखे?

है लगी यही प्रत्याशा क्या,
जो बना रही मदमस्त सखे?
इस पर ही हो क्या तुले हुए,
जीवन को करते अस्त सखे?

इस महात्याग के करने में,
आता न तनिक संकोच सखे!
यों प्राण-लोभ का मान भला,
कैसे सकते उत्कोच सखे?

तुम महा तपस्वी हो, तुमसे
करना विवाद है व्यर्थ सखे ;
मेरा तुम से विवाद करना ही,
रखता है क्या अर्थ सखे ?

वैचित्र्य तुम्हारा देख किन्तु,
कुछ कह पड़ता ही हार सखे ;
पर नहीं समझना इसे असंगत,
मेरा यह व्यवहार सखे।

अब रात्रि अधिक जा चुकी आज,
जाता करने विश्राम सखे ;
निज घर जाकर निद्रा में सोलूँ,
बस अब तो दो याम सखे।

फिर मिल लूँगा ही खोज तुम्हें, मैं
उसी समय, इस स्थान सखे !
हा ! किन्तु मिलोगे तुम प्रिय से क्या,
जो कर चुका पयान सखे !

———

होली

ग्राम ग्राम के घर घर में है,
गूँज उठी मीठी बोली ;
बहुत दिवस के बाद मिली है,
आओ सब खेलें होली।

झोली लेकर के गुलाल की,
बच्चों की निकली टोली ;
बुड्ढों ने भी नव उमंग में,
आज मचायी है होली।

नाना रंगों से है पूरी,
भरी हुई सबकी झोली ;
कैसे रीते आज भला जब,
सुख लेकर आयी होली ?

अरमानों के भवन बनाती,
है धनवानों की टोली ;
दीन दुखी पर जला रहे हैं,
निज अरमानों की होली।

चलो प्रथम धनिकों में चल कर,
देखें हम उनकी होली ;
समय मिलेगा यदि लख लेंगे
दीन जनों की भी होली।

देखो वृद्ध जनों की भी है,
यहाँ वासना हा ! डोली ;
आज मनाने को तत्पर हैं,
वे विधिपूर्वक सुख-होली।

लखो अप्सराओं की जाती,
कैसी शानदार डोली;
इनके साथ मनावेंगे, ये
वैभव के पुतले होली।

रत्न-राशि की वर्षा कर देती,
नर्तकियों की बोली;
दोनों हाथ लुटेगा वैभव,
आज महामुदमय होली।

गृद्ध-दृष्टि से ताक रहे हैं,
नर पिशाच उनकी चोली।
इसमें ही है बँधी हुई,
मानो हत्यारों की होली।

आज शेष कामों पर अपने,
मार रहे हैं ये गोली;
है अवकाश कहाँ कार्यों से,
मना रहे जब वे होली।

बहुत निकट ही भरी हुई है,
रंग-गुलालों से झोली;
नर्तकियों के गालों पर है,
नाच रही सारी होली।

इसीलिए तो इन लोगों ने,
आज सम्पदा है खोली;
फिर मनमानी क्यों न मना लें,
ये सब दीवाने होली?

महलों में पकवान बन रहे,
लक्ष्मी है जाती तोली;
भीतर बाहर मची हुई है,
सभी जगह मंगल-होली।

पाँव कब्र के भीतर जिनके,
है उनकी भी इक टोली,
नव उमंग से, नये रंग से,
चली मनाने है होली।

रसना से नव रस झरता है,
भरी हुई सुमधुर बोली;
वही प्रतिध्वनि गूँज रही,
भावुक मस्तानों की होली।

तृषा शान्त करती है इनकी,
रंग गुलालों की झोली;
बरस बरस के अरमानों को,
पूर्ण कर रही है होली।

जितना मूल्य चुकावें कम है,
है यह अति ही अनमोली;
बार बार फिर कहाँ मिलेगी,
मस्तानी, रानी होली?

इसे विश्व का वैभव दे दो,
हो न कहीं यह विषघोली;
वर विभूति दे जिससे सुन्दर,
मंगल करणी शुभ-होली।

अविश्रान्त आती रहती है,
देखो पानों की ढोली ;
इसके साथ हो रही सुन्दरतर
से सुन्दरतम होली।

मस्तक पर है आज सुहाती,
रंग गुलालों की रोली ;
ऊँचे स्वर से कहती मानो
होली है होली, होली।

नहीं गुलालों, दीनों के
शोणित की है यह तो होली ;
शोणित में भर-भर पिचकारी
खेल रहे हैं ये होली !

दीनों की सम्पत्ति चूस,
नर्तकियों की भरती चोली !
शोणित में है रँगी हुई,
यह दीवानी खूनी होली।

दीनों के प्राणों पर बनती,
आह ! दिवानों की होली;
उनके ही शोणित से सिंचकर
बनी सयानों की होली।

किन्तु समझते नहीं धनिक हैं,
वह है दीनों की टोली,
रात्रि-दिवस सब एक बनाकर;
है रचती उनकी होली।

यह होली तो देख चुके हम,
चले हमारी अब टोली,
दीन बिचारे मना रहे जो,
चलकर देखें वह होली।

देखो उधर फूस की कुटिया,
छन छन कर आती बोली,
सोच रहा दम्पति 'किस दुख से,
आज मनेगी यह होली ?'

घर में नहीं एक कौड़ी भी,
भरे रंग से क्यों झोली ?
कैसे आज मनावेंगे हम,
वर्ष वर्ष पर नव-होली।

हम तो किसी भाँति चुप भी,
पर शान्त न बच्चों की टोली;
छोड़ नहीं सकती है वह तो,
कभी मनाना निज होली।

नये वस्त्र लख मचल उठेगी,
नन्हें बच्चों की टोली;
आकर बच्चे ठुनक पड़ेंगे,
आज मनाने को होली।

व्यथित बाप बैठा चिन्तायुत,
लगी कलेजे पर गोली;
एक महान समस्या लेकर,
यह आयी निष्ठुर होली।

दबा हुआ है ऋण-बोझे से,
किन्तु मनाना है होली;
आहुति देकर अरमानों की,
चला मनाने है होली।

छोटी बच्ची मचल रही है,
देखो है कितनी भोली!
उसको भला विदित ही क्या,
उसकी तो बस होली होली।

कर्ज़ काढ़ने पिता चल पड़ा,
लेकर के डंडा झोली;
ऋण से आज बचे वह कैसे,
है जब दीवानी होली!

नेत्रों में अब भी फिरती थीं,
लड़की की आँखें भोली;
मूक-वेदना से कहती थीं,
'हम न मनावें क्या होली?'

अश्रुबिन्दु दो टपक पड़े,
वह लगी कलेजे में गोली ;
दुखियों का बनकर आती,
है यह अभिशाप महा होली।

अन्तर्व्यथा उसी दृग-जल से,
आह ! बिचारे ने धोली ;
आँसू ही बरदान लिये,
आयी है यह क्रूरा होली।

पथ में ही थी, नशेबाज़
लोगों की, रमी हुई टोली ,
गहरा प्याला पी करके,
थी खेल रही अनुपम होली।

चला जा रहा था दुखिया,
इन लोगों को सूझी बोली ;
'नेत्र हमें लख चुरा रहा है,
यद्यपि आज सुखी-होली।

नहीं आज हम ने घमंड को
चूरण किया, मार गोली ;
नहीं कभी हो सफल हमारे,
जीवन में यह सुख होली।

ठान यही मन में दुखिया से,
बोल उठी सारी टोली;
'भाई कहाँ चले चुप मारे,
वर्ष वर्ष पर यह होली।'

आज दिवस है रास-रंग का,
मारो कामों पर गोली ;
आओ थोड़ा मद्यपान कर लो,
हमसे खेलो होली।

किन्तु बिचारे उस दुखिया को,
कहाँ सुहावे यह बोली ?
बोला. 'नहीं हमारे हित है,
यह तुम लोगों की होली।'

ताना समझ इसे दुखिया पर,
बिगड़ उठी सारी टोली;
बध कर उसका उसी जगह पर,
मना चुकी अपनी होली।

यद्यपि कारागृह पाया ही,
पर उन सब की क्या हो ली?
जाकर देखो दुखिया के घर,
कैसी बनी वहाँ होली!

मूर्छित रही बिचारी पत्नी,
दिवस गये रातें डोलीं;
अबला को उपहार यही,
दे गयी भरी मंगल होली!

उस से रोया गया जहाँ तक,
हाय! बिचारी वह रो ली।
अश्रुधार ही से उसने, उस
दिन खेली रँगमय होली।

कितने उर में रखे हुए,
अरमान रही लड़की भोली !
एक बार ही जला उठी वह,
उन अरमानों की होली।

जला रही थी जिस दम अबला,
अपने प्रिय पति की होली;
उसी समय थे मना रहे,
वैभव के भी पुतले होली।

इसमें उसमें कितना अन्तर ?
यह वह दोनों ही होली।
है वह तो मदमत्त जनों की,
पर दीनों की यह होली।

पापवासना, उच्छृंखलता
की, है वह ताण्डव-होली;
पराधीनता, परवशता यह,
हाय ! विवशता की होली !

पापी, कुटिला, उन्मादी, खूनी ,
मदमाती वह होली !
जीवन की आशाएँ जिसमें
जलती हैं, वह यह होली।

[१५ अगस्त १६४०]

———

भूखों का देवता

धूमिल छाया में कुटिया की,
लेकर सब जीवन की साध;
रोगी रुग्ण पड़ा शैय्या पर,
घेरे जिसको दुःख अगाध।

पत्नी सिरहाने बैठी है,
अश्रुपूर्ण नेत्रों के साथ;
धीरे-धीरे दबा रही है,
कोमल कर से पति का माथ।

दारुण दुख से धधक उठी है,
रोगी की उर-अन्तर्ज्वाल ;
खुला हुआ है बहुत देर से,
यम कराल का भीषण गाल ।

असह-व्यथा से फटा जा रहा
है, बेचारे का हा ! माथ ;
लख कर उसकी करुण दशा को,
पत्नी कह उठती, हा नाथ !

रक्त मांस सब सूख गये हैं,
शेष बचा है बस पंजर ;
कर डाला है महा व्याध ने,
उसके सब तन को जर्जर ।

आज दशा है अधिक क्षीणतर,
जीवन की कुछ आशा नहीं ;
किन्तु, हृदय से मानव के,
होता आशा का नाश कहीं ?

नहीं पास धन है अबला के,
दवा करे जिससे पति की ;
अन्य न कोई साधन ही है,
कौन दवा है इस गति की ?

वर्तमान तो वर्तमान है,
पर भविष्य का क्या होगा ?
नहीं कमानेवाला कोई,
फिर क्योंकर जीना होगा ?

अपनी तो परवाह नहीं है,
पर छोटा सा है बच्चा ;
नहीं विश्व का ज्ञान उसे कुछ,
है नादान, बहुत कच्चा ।

देखो, पिता इधर गिनता है,
श्वासों की अन्तिम घड़ियाँ ;
बाल-मंडली में छनती हैं,
भूली की सुमधुर बड़ियाँ ।

आह ! उसे क्या विदित भला है,
उस पर है दुर्दिन की मार !
पा न सकेगा अब आगे वह,
पिता, पिता का अनुपम प्यार।

भूला है निज बाल-मंडली में,
वह नन्हा सा सुकुमार ;
जहाँ फूट पड़ती है, मानो
सुख समृद्धि की अविरल धार।

माता को जब याद कभी,
पड़ जाती है बच्चे की बात ;
भावी आशंका से उसका,
हिल उठता है कोमल गात।

आह ! पिता तो बेसुध है,
उसको कुछ भी है याद नहीं ;
है नितान्त असमर्थ आज,
लखता बच्चे का नाद नहीं।

लख पाता यदि उसे कहीं,
चिन्ता-सागर लहरा जाता ;
अपने क्षीण हृदय पर बेबस,
घाव बहुत गहरा पाता ।

खेल समाप्त हुआ बालक का,
क्षुधा महान् प्रतीत हुई ;
अब तक विस्मृत माँ थी उसको,
माता से अब प्रीति हुई ।

घर की ओर बढ़ा द्रुत गति से ,
खेल-तमाशा भूल सभी ;
हुआ अभी था आपस में जो ,
भूल गया वह तूल कभी ।

पहुँचा घर पर मां को देखा ,
प्रश्न प्रथम था रोटी का ;
सुन कर माता चकित हुई ,
हा ! अञ्चल सरका चोटी का ।

बच्चे को क्या दे सकती थी,
घर में अन्न न तनिक रहा !
दारुण स्थिति में आह ! बिचारी
से, न गया वह कष्ट सहा।

ठीक उसी दम प्राण पखेरू,
पति के भी आकाश उड़े;
थे वे प्राण पती के, या
थे अबला के सौभाग्य उड़े ?

मरते दम का दृश्य अभी भी,
था उसकी आँखों में विद्य,
नेत्रों के सम्मुख अब भी,
करता था एक भयानक नृत्य।

देख रही थी, मरते दम के
पति के सजल नयन अब भी;
पति का कातर हृदय कर रहा
था सकरुण क्रन्दन अब भी।

हत-ज्ञान हुई अबला भारी,
नेत्रों से बूँद न एक गिरी;
दुर्वह हृदय व्यथा से उसकी,
आँखें निज सुत-ओर फिरीं।

अब न रोक पायी अपने को,
आँसू के झरने फूटे;
मोती-बिन्दु बड़ी द्रुत गति से
नेत्रों से सहसा छूटे।

अब तक बालक समझ रहा था
इसको एक पहेली सा;
शीघ्र उठा भोले बालक का
मस्तक, युगल हथेली का।

मस्तक कर पर धर बैठा था,
माता का रोना लख कर;
बँधे स्रोत सम फूट पड़ा वह,
खड़ा हो गया अब उठ कर।

दीर्घ काल तक चुप न हुए वे,
अविश्रान्त रोना रोए;
रोते क्यों न विचारे जब थे,
अपनी अनुपम निधि खोए।

लेजाकर शव को श्मशान पर,
फूँक दिए उनके भाई;
इन दोनों को तो बिलम्ब में
ही, हा! चेतनता आयी।

रोटी का अब प्रश्न कठिन था,
मां जिसको सुलझा न सकी;
भूखे बच्चे को आश्वासन
देकर भी, समझा न सकी।

'रोटी कौन हमें देगा अब,
मां हमको यह बतलाओ;
भोजन, वस्त्र चलेगा कैसे,
हमें तनिक तो समझाओ।'

शान्त चित्त से माता कहती,
लख नहिं सुत में दोष कुटेव,
'बेटा सब को भोजन देता,
जगत् पिता भूखों का देव।'

'बतला दे मुझको, मेरी माँ,
भूखों का है देव कहाँ?
मिले तनिक भी मुझे पता यदि,
उससे जाकर मिलूँ वहाँ।'

उत्तर इसका माँ क्या देती?
मन व्याकुल हो रह जाता;
पीछे से कर्तव्य कान में,
चुपके से कुछ कह आता।

बहला देती सुत को कह कर,
'श्रद्धा से ही मिलता ईश;
कोई जगह विशेष नहीं वह,
सभी जगह रहता जगदीश।'

मिलने को प्रभु से अनाथ ने,
अपने मन में ठान लिया;
अपनी प्रतिभा-प्रखर-बुद्धि से,
ठीक पता था जान लिया।

निकल गया निर्जन कानन में,
हुआ तपस्या में तल्लीन;
हा! अनाथिनी की गोदी से,
लिया देव ने सुत भी छीन।

कई दिवस तक सुधि-बुधि खोकर,
रहा तपस्या में वह लीन;
ऐसे प्रभु प्रत्यक्ष मिलेगा,
यही जानता था वह दीन।

सूख गया तन, क्षीण हुआ मन,
चलने को भी शक्ति न थी;
कितना महाव्रती था पर वह,
छुटती अब भी भक्ति न थी।

भोला सा नन्हा मुखड़ा हा !
कुम्हला कितना आज गया ;
किन्तु हृदय-बल विपुल उसे
था, प्राप्त हुआ हां आज नया ।

हुआ ब्रह्म में लीन, अन्ततः
साध हुई पूरी मन की ;
यद्यपि इसके लिए उसे ,
बलि देनी पड़ी आज तन की ।

पापी जग वह देख न पाया ,
नन्हा सा भोला सुकुमार ;
पर उसकी दुखिया माता पर ,
पड़ी विश्व की भारी मार ।

धनिकों के प्रपञ्च से अबला ,
हो हताश हा ! ऊब गयी ;
रोती और बिलखती ही वह ,
जग-जलनिधि में डूब गयी ।

अनुभव हुआ नयी दुनियां को,
जिसमें दीनों का शोषण;
आह! कुटिलता और विषमता
का, इसमें कितना पोषण!

पद पद पर ठुकराये जाते
हैं, बेचारे दीन दुखी;
यह दुनियां उन लोगों की है,
जिसमें रहते क्रूर सुखी।

अरे मदोन्मत धन गर्वी तुम,
लूट रहे हो कितने पाप!
कितने दुखियों के मिलते हैं,
प्रतिदिन तुमको भीपण शाप!

इसे न कोरा शाप समझना,
इसमें छिपी महा ज्वाला;
सभी तुम्हारे सुख, वैभव पर,
पड़ जायेगा हिम पाला।

अब तक रहे चूसते जिनको,
पाप न दम लेने देगा;
इसी क्रूरता से तुम लोगों
के भी. जन्म प्राण लेगा।

किस मस्ती में हो तुम भूले!
सब दिन एक समान नहीं;
वर्तमान ही रहता सम्मुख,
है भविष्य का ध्यान नहीं।

दीनों को अपनाओ प्यारे!
काफ़ी सता चुके इनको,
अधिक क्रूरता करके अब तुम,
दिखा सकोगे मुख किसको?

इनका स्नेह, सहानुभूति,
सहृदयता करलो यदि तुम प्राप्त;
फिर देखो वह सुयश तुम्हारा,
बनकर हो दिगन्त में व्याप्त।

———

बन्दी

अरे तोड़ दे जञ्जीरों को,
जिन्हें देख है हँसती भाग,
बन्दीगृह के प्राचीरों में,
बन्दी ! आज लगादे आग।

तुझे देख हँसता है दुर्दिन,
संसृति तुझको ठुकराती;
मायावी, छलना, तेरी है
भाग्य, तुझे लख मुसकाती।

कठपुतला है बना भाग्य का,
उर में ही रहते अरमान ;
पद-पद पर सहना पड़ता है,
घड़ी-घड़ी तुझको अपमान ।

निठुर बन्धनों में समाज के,
पड़ा आज बेबस होकर ;
कारागृह में दिवस बिताता,
क्यों बन्दी ! सब कुछ खोकर ?

सामाजिक प्राचीन रूढ़ियों
पर, तूने धावा बोला ;
इसीलिए तो खल समाज ने,
कारावास - द्वार खोला ।

यह समर्थ जन का समाज है
हाँ, रे मतवाले बन्दी !
प्रचलित इसमें आज प्रथाएँ,
हैं मनमानी, अति गन्दी ।

यदि विरोध करता है इसका,
तुझे अग्नि में है पड़ना;
नहीं खेल है बालवृन्द का,
खुल कर के विरोध करना।

छिप कर पाप अनेक करो,
पर नहीं प्रकट होकर करना;
करता है यदि मत-विरुद्ध तू,
इसी भाँति तुझको सड़ना।

नित क़ानून यहाँ बनते हैं,
नित्य बिगड़ते हैं बनकर;
लय जीवन होते रहते,
क़ानूनी पंजे में पड़कर।

यदि समर्थ है, रुपया व्यय कर
जो मन में चाहे करले;
जितनी है इच्छा तव उर में
इस समाज से तू लड़ले।

चिल्लाता 'अन्याय महा है,'
पर सुनता है तेरी कौन ?
इस चिल्लाने से अच्छा है,
बिल्कुल ही रह जाना मौन।

आज न तेरा साथी कोई,
आँखें सभी चुराते हैं;
तेरे ही सम्मुख रे बन्दी !
तेरी हँसी उड़ाते हैं।

स्वयम्--बनाये क़ानूनों की,
पर परवाह न तू करना;
जन्म-सिद्ध अधिकारों के हित,
इसी भाँति लड़ते रहना।

कितनों ने निष्ठुर समाज की,
बलिवेदी पर प्राण दिये;
पर क्या इस दानव-समाज ने,
बन्दी ! उन पर कान किये ?

अगणित बलिदानों से ही,
तृष्णा बुझ सकती है इसकी;
जब नवीन पथ चला बनाने,
बात तुझे तब किस भय की।

अरमानों की भव्य वाटिकाएँ,
तो तेरी उजड़ चुकीं;
स्वप्नों के संसार बिगड़ते,
आँखें तेरी देख थकीं।

अपना जब सर्वस्व मिट चुका,
तब निज तन भी लय कर दे;
निज अनुपम उत्सर्ग मात्र से,
खल समाज में भय भरदे।

अर्घ्य चढ़ा दे निज प्राणों का,
स्वाहा करदे अरमानें;
कूद पड़ेंगे निश्चय उसमें,
आज़ादी के परवाने।

(८५)

आयेगा भूचाल भयानक,
इन सब के बलिदानों से;
नव-समाज के स्तम्भ उठेंगे,
बन्दी ! तव अरमानों से।

२३ अगस्त १९४०

———

अतीत

दुर्दिन देख चुका है भारत !
क्या अब भी इच्छा बाकी ?
युग के युग हैं बीत गये,
पूरी न हुई आशा माँ की।

हाय ! विचित्र दशा है तेरी,
तेरा पहला मान कहाँ ?
उन्नत मस्तक विनत बता क्यों,
तेरा गौरव गान कहाँ ?

किस अनन्त में हैं विलीन,
गाथाएँ तव सुकुमारों की ?
कहाँ गयी वह चमक निराली,
जगमग जगते तारों की ?

पहला गौरव खो बैठा क्यों,
भारत ! इसका कारण क्या ?
दुखी दशा का सोचा तूने,
अब भी कभी निवारण क्या ?

निज स्वतन्त्रता खो करके,
बैठा है तू निष्क्रिय होकर ;
पर इच्छा आधीन बना तू,
अपनी विमल कीर्ति धोकर।

तेरी ध्वजा पताका क्यों है,
नीचे पड़ी बिना आदर ?
रणगामी तेरे सुपुत्र क्यों,
बने हुए हैं अब कायर ?

तूने अन्य देशियों को भी.
शत-शत पाठ पढ़ाये थे ;
रख आदर्श महान् तभी तो,
अपने मान बढ़ाये थे ।

रण-चंडी की प्यास बुझायी
थी, तूने दे बलि नेकों ;
निज स्वतन्त्रता-हित दोषों को,
अब भी तो अपने फेंको ।

भारत था तू भारत केवल,
राष्ट्रीयता के बल पर,
उसके कारण ही तेरा,
आदर था उतना इस थल पर ।

अक्षय कीर्ति रहेगी उसकी,
जगत करेगा याद सदा ;
अमिट पड़ी है छाप, रहेगा
उसका गौरव-नाद सदा ।

।र्णन करना नहीं सरल है,
है महान गौरव गाथा ;
सुनकर तेरी अद्भुत कृतियाँ,
चकरा जाता है माथा।

राजस्थान उपस्थित अब भी,
हा ! स्मृति उसकी शेष रही ;
राजपूत वीरों की जननी,
पर है अब वह वेष नहीं।

तिहास हमारा जिसे देखना
हो, वह जा हल्दी देखे ;
उसके वक्षस्थल पर के
घावों को तो वह कुछ लेखे।

आह ! वही शोणित की प्यासी
हल्दी उसे बतावेगी ;
क्षात्र जाति का अद्भुत परिचय,
उसको आज करावेगी।

प्राणों का सौदा करने को,
राजपूत उसमें आये;
रणचंडी की प्यास बुझाने
को ही मर्दाने धाये।

कैसी शान टपकती थी,
आजादी के दीवानों से;
एक अलौकिक साहस सा,
झरता था उन मस्तानों से ।

मरना हो तो उनसे सीखो,
जीना हो तो भी उनसे।
कर्म क्षेत्र में पग रखना हो,
तो जाकर सीखो उनसे।

गौरव से उन्नत कर मस्तक,
खड़ा राजपूताना आज;
अब भी मस्तक झुका नहीं है,
बना एक मर्दाना साज।

चप्पा चप्पा भूमि वहाँ की
क्षत्रिय शोणित से सींची ;
पूर्व-शक्ति से ही केवल,
हो सकती कभी न वह नीची।

कैसा था राणा प्रताप वह,
था उसका कैसा व्रत वह ;
कैसी उसकी सहनशीलता,
था कैसा सेवा-रत वह ?

नहि स्वतन्त्रता बेची उसने,
यद्यपि समुद सहा बनवास ;
देश हेतु ही तो उसने,
खायी जंगल की कोरी घास ?

इस दृढ़ व्रत के ही कारण तो,
छक्के अकबर के छूटे !
आत्म-धैर्य के ही कारण,
अवसर आ पैरों पर लोटे।

गोरा बादल का भूलेगा,
जग को क्या दृष्टान्त कभी ?
अमर-पृष्ठ से मिट सकता है,
उनका क्या वृत्तान्त कभी ?

राजपूत ही नहीं राज-
पूतनियाँ छोड़ गयी हैं छाप ;
जौहर व्रत का जग में होता,
सदा रहेगा मंगल-जाप ।

कैसा उनका साहस था वह,
कैसा उनका था उत्सर्ग ?
मानहानि के एक प्रश्न पर,
जल उठता था पूरा वर्ग ।

आततायियों के मस्तक,
उनके सम्मुख उठते थे क्या ?
धर्मभ्रष्ट करने को उनको,
साहस कर सकते थे क्या ?

रण में जाने हेतु कौन,
पतियों को थीं करती तैय्यार ?
हो प्रसन्नता से आह्लादित,
पहनाती थीं उनको हार।

एक बार यम भी लख उनको,
मस्तक अपना नाते थे ;
अपने मस्तक पर उनके,
चरणों की धूलि लगाते थे।

इंगित पर स्वदेश के अपने,
चितामध्य वे जलती थीं ;
कैसी थीं वे वीर नारियाँ,
निज पथ से नहिं टलती थीं ?

राणा की पुत्री चम्पा का,
कैसा था आदर्श महान ?
मरते दम तक भी स्वदेश—
चिन्ता ही में था उसका ध्यान।

उस क्षण श्री राणा प्रताप भी,
निज कर्तव्यों से च्युत थे,
अवलोकन कर हालत अपनी,
वे महान चिन्ता युत थे।

हार, अन्त में जाते थे
करने वे अकबर से सन्धी;
पुत्री की हालत लख उनकी,
बुद्धि हुई थी तब अन्धी।

सुन उनका निश्चय चम्पा ने,
झट उनको आदेश दिया;
जिसको राणा ने उरधर कर,
फिर स्वतन्त्र निज देश किया।

बाइस वर्ष कटीली सेजों
पर, सोये वह राजकुमार;
अतुलित बतलाओ तो कैसा,
था उनका स्वदेश का प्यार ?

एक शिवाजी ने बतलाओ,
कैसे धर्मोद्धार किया ?
देश जाति का तन मन से,
कैसे उसने उपकार किया ?

है दधीचि का त्याग याद क्या,
रन्तिदेव का अतुलित दान ?
कर्ण आदि का शौर्य पराक्रम,
होता क्या कुछ भी है भान ?

पिछला युग भी याद करो तो
होगा तुमको अति आनन्द;
एक अलौकिक पाओगे
उत्सर्ग तभी हो तुम सानन्द ।

झाँसी की रानी, बतलाओ तो
कैसी थी समर धनी ?
कैसी दिखलाती रण प्रांगण
में सुन्दर थी रक्त-सनी ?

नर मुंडों से क्षेत्र पटा था,
उसके आगे कैसा वह?
निज स्वत्वों की रक्षा का,
कैसा था युद्ध भयानक वह?

जिधर निकल जाती रणचंडी
क्षेत्र दहल उठता सारा;
एक अकेली अबला ने हा!
कितने अरियों को मारा?

माँग निजी अधिकारों की भी,
उनको असह्य प्रतीत हुई;
तभी यन्त्रणाएँ तो भारत
में, निकलीं हा! नयी नयी।

अत्याचार देख भारत के
लालों के उर तड़प गये;
शब्द उठाने को उसके
प्रतिकूल तभी उठ खड़े हुए।

सन्देशा था अति सुन्दर वह,
भारत की आज़ादी का;
कहते हैं वे ग़द्र इसे पर,
भारत की बरबादी का।

भारत की स्वतन्त्रता का,
घनघोर युद्ध था प्रानों का;
सिंहनाद था रणवीरों का,
कितने विप्लव-गानों का।

वैदेशिक सत्ता को करने
नष्ट, शहीदों की टोली,
बाँध कफ़न सिर में, स्वदेश हित
नव-उमंग से ही निकली।

निज सम्मान बचाने के हित,
प्राणों की थी चाह नहीं;
मिट वे गये क्षेत्र में जाकर,
निकली मुख से आह नहीं।

कैसा था वह दृश्य भयानक!
हा! कितने घर भग्न हुए?
कितने ज्वलित-लाल जननी के,
समरांगण में नष्ट हुए।

सुहागिनों के सुहाग उजड़े,
घेर लिए उनको दुखड़े;
निरपराध, कितने छोटे
बच्चे, माँ बापों से बिछुड़े;

मानवता का ह्रास हुआ,
पशुता की ही तूती बोली;
नीति चली फिर एक भयावह,
जो थी अति ही विष-घोली।

इधर दिवानों का जत्था था,
उधर पिशाचों की टोली;
जलते हुए घरों की आकर्षक,
थी कैसी वह होली?

भारतीय ललनाओं के तन,
अम्बर-हीन दिखाते थे ;
धर्म भ्रष्ट करके ही उनको,
वे आनन्द उठाते थे।

पैशाचिक बल से हारा
मनुष्यत्व, न उसका नाम रहा ;
बाकी बचे हुए को करना,
नष्ट एक अब काम रहा।

आह ! क्रूरता की सीमा को,
भी दैत्यों ने पार किया;
धूल धूसरित कर भारत
को ही, उन सबने श्वास लिया।

भारत ! तेरी शक्ति कभी भी,
क्षीण किसी से नहीं रही ;
आजादी-हित बतला, किस
युग में नहिं शोणित नदी बही।

कब नहिं चढ़ना जाने, तेरे
पुत्र समुद बलि-वेदी पर ?
कब नहिं मरना जाने वे सब,
स्वतन्त्रता की वेदी पर ?

तूने सिखलाया जग को,
किस भाँति पुरुष मर जाते हैं ;
कर्म क्षेत्र में आकर के,
किस भाँति कर्म कर जाते हैं।

तब फिर बतला तो, क्या कारण
है भारत असफलता का ?
क्या तुझको मिलता सदैव है,
बदला नहीं सरलता का ?

राजपूत वीरों की समता,
कौन जाति कर सकती है ?
उनकी सद्गाथा कहते,
यह जिह्वा भी तो थकती है।

फिर भी उनको करना पड़ा,
पराजय का क्यों कर अनुभव ?
क्या युद्धों में किसी भाँति,
कम कहता कोई उनका लव ?

नहीं, बात यह है—भारत सुत
कभी संगठित नहीं रहे ;
एक धार में बँध कर उनके,
कभी न शोणित-स्रोत बहे।

होता यदि संगठन कहीं तो,
क्या ग़ोरी भारत आता ?
पराधीनता की कड़ियों में,
क्या भारत तब बँध जाता ?

ग़ोरी को ही पृथीराज ने,
एक मास क़ैदी रक्खा ;
किन्तु संगठन के अभाव से,
उसने उसका फल चक्खा।

होता हत्यारा जयचन्द
कहीं हा बिधि नहि भारत में,
तो पड़ता क्या स्वर्ग देश यह,
हा भगवन! दुख आरत में?

घर के भेदी ने ही तो हा!
घर का सत्यानाश किया;
घर की उपजी हाय! फूट ने
ही, तो सब का नाश किया?

हाय! व्यक्तिगत झगड़े के
कारण, भारत की भाग्य मिटी;
एक फूट के ही कारण तो,
भारत की सम्पत्ति लुटी?

राजपूत वीरों के बल का
संचय भारत में होता,
तो क्या सम्भव था भारत
अपनी आज़ादी को खोता?

होते यदि आक्रमण देश में,
कहीं अन्य-देशी अरि के;
मर मिटने को तत्पर रहते,
निर्भय राजपूत-लड़के।

है इतिहास हमारा साक्षी,
रजपूतों के विक्रम का;
एक प्रकाश दिखाता हमको,
उनके लौह-पराक्रम का।

थे वे राजपूत, तलवार-
परीक्षा करते उँगली पर;
देश-जाति के एक प्रश्न पर,
दे देते थे अपना सर।

था यह सभी, परन्तु संगठन
की बस कमी सदैव रही;
बस इस एक मात्र कारण से,
क्षत्रिय जाति अधीन रही।

अपने कर्तव्यों से च्युत, यह
जाति हो गयी आज अहा !
पराधीनता - जञ्जीरों में,
जकड़ उठी है आज महा।

रणगामी थे राजपूत जो,
हैं वे ही वेश्यागामी ;
जो थे कभी महानामी हा !
आज बने हैं वे कामी।

हा ! स्मृति-मात्र शेष है अबतो,
पतित हुए हम आज महा ;
लज्जा धोने को बस अब तो,
एक पूर्व-इतिहास रहा।

(२५ अगस्त सन् १९४० ई०)

———

*

टंकार

मचा सकेगी सरस हृदय में,
यह जब एक प्रबल झंकार ;
समझ सकूंगा अपने मन में,
सफल हुई मेरी टंकार।

अश्रुकणों से लदा हुआ,
यह शताब्दियों का लेकर भार,
बोझे से कुछ दबी हुई सी,
जाती है मेरी टंकार।

सम्भव है पूँजी-उत्पीड़न,
से यह भी हो जावे क्षार;
किन्तु गूँजती सदा रहेगी,
जन्म-जन्म इसकी टंकार।

होकर भी टंकार, बहा
देगी हृदयों में करुणा-धार;
नहीं निरर्थक तब कह देना
'नाम' कहीं इसका टंकार।

सदा प्रयत्न करेगी, जोड़
सके यह उर के टूटे तार;
आशाओं से परिप्लावित,
मेरे नन्हें उर की टंकार।

नहीं इसे कुछ काव्य समझना,
यह मेरे उर की झंकार;
हृत्तन्त्री के तारों से खा
रगण, मचा उठती टंकार।

जग-जीवन की विभीषिका से,
पाकर के उर भारी हार ;
धैर्य. शौर्य, आशा, धारण
कर सुना सका है यह टंकार ।

पराधीन, परवश, उन्मन मन
की, यह छोटी सी हुंकार ;
विफल प्रयास किया है मैंने,
कह करके इसको 'टंकार'।

जो हो, त्रुटि कर ही डाला है,
आशा है, पावेगी प्यार ;
हुई निरादृत, पड़ जावेगी,
मेरी यह धीमी टंकार ।

त्रुटियों से तो महा कठिन है,
इस जीवन में पाना पार ;
अतः विरक्त भला कैसे,
त्रुटियों से रह सकती टंकार ।

आशा से इस, 'दूर करेगी
दुखियों के सिर पर से भार'
पाठक! सम्मुख भेज रहा हूँ,
अपनी छोटी सी टंकार।

इसे धृष्टता समझ, क्षमा
करना मेरी यह है मनुहार;
देखो किन्तु रूठ मत जाए;
मेरी आशा, यह टंकार।

गा-गाकर कुछ करुण कहानी,
करता हल्का जी का भार;
उसका ही यह फल स्वरूप है,
मानस की मेरी टंकार।

वही कहानी जिसमें, जीवन
की आशाएँ होतीं क्षार;
उसकी ही बस प्रतिध्वनि है यह,
उसकी ही बस है टंकार।

सुनकर ऊब गये होंगे,
पाठकगण अब मेरी टंकार;
चुप हो बैठ रहा हूँ, हाथों
में अर्पित करके 'टंकार'।